

दुनिया मेरे आगे

कुरबान अली

चपन में गर्मियों की छुट्टियों में किसी सुदूर या पहाड़ी पर्यटक स्थल पर जाने का मौका नहीं मिला, लेकिन आजकल तो बच्चे स्कूल की छुट्टियां शुरू होने से पहले ही कहीं न कहीं घूमने की जिद शुरू कर देते हैं और उन्हें ले जाना भी पड़ता है, इसलिए कि आजकल स्कूलों में बच्चों से न सिर्फ ये पूछा जाता है कि गर्मियों की छुट्टियों में वो कहां गये थे, बल्कि उस स्थान का संक्षिप्त और सचित्र वर्णन लिखने को भी कहा जाता है, मानो ये 'प्रोजेक्ट भी पढ़ाई का हिस्सा हो!'

मुझे अपने बचपन में ये मौका तो कभी नहीं मिला कि कहीं सैर-सपाटे के लिए दो-चार दिनों के लिए जाऊं, लेकिन मई-जून की दो मह की छुट्टियों का साल भर बेसब्री से इंतजार रहता था, क्योंकि मालूम रहता था कि इन छुट्टियों में ननिहाल जरूर जाना है। इसकी एक वजह तो ये थी कि शैतानी करने की जो आजादी ननिहाल में होती है, वो अपने घर पर नहीं होती। अभी भी घर के मुकाबले ननिहाल में बच्चों को स्वच्छंद विचरण करने की ज्यादा आजादी होती है। लेकिन महानगरों की दौड़-भाग वाली जिंदगी और संयुक्त परिवारों के खत्म होने की परंपरा शुरू होने से बच्चों के लिए ये अवसर भी कम होते जा रहे हैं।

यूं तो मेरा ननिहाल, मेरे पुरतैनी गांव कलंदर गढ़ी से मात्र 55-60 किलोमीटर की दूरी पर ही है और अब वहां सड़क के जरिए छेड़-दो घंटों में आसानी से पहुंचा जा सकता है, लेकिन आज से 30-35 वर्ष पूर्व यह रास्ता तय करने में लगभग सारा दिन लग जाया करता था। जिस दिन यह सफर शुरू होता, मेरी अम्मी कई दिन पहले से उसकी तैयारियां शुरू कर देती थीं और सफरवाले दिन तड़के से ही रास्ते के लिए नाश्ता बनाना शुरू कर देती थी, जिसे डलिया कहा जाता था और चार-पांच लोगों के लिए इतना नाश्ता बनाया जाता था कि 15-20 लोग आराम से खा सकें। खुर्जा जंक्शन से अलीगढ़ जानेवाली पैसेंजर गाड़ी का समय साढ़े 11 बजे का था, जो शायद अब भी वही है। लेकिन हमलोग रेलवे स्टेशन के महज एक किलोमीटर तक के सफर के लिए, जो बैलगाड़ी से तय किया जाता था, दस बजे ही घर से चल देते थे और सामान इतना होता था कि अब अमेरिका या यूरोप के सफर के लिए भी लोग नहीं रखते। भाप से चलनेवाली दिल्ली-आगरा पैसेंजर गाड़ी, जिसे हम छुकछुक गाड़ी कहा करते थे, आम तौर पर 'लेट' हुआ करती थी और हमारे स्टेशन पर लगभग आधा घंटा रुकती थी, क्योंकि उसे इंजन के लिए पानी लेना होता था।

भारी-भरकम सामान के साथ, जिसमें टिन के बक्से हुआ करते थे, ट्रेन के द्वितीय श्रेणी के साधारण डिब्बे में जगह पाने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ती थी और डेढ़-दो घंटे के सफर के बाद ये गाड़ी 45 किलोमीटर का रास्ता तय करके दोपहर बाद अलीगढ़ पहुंचती थी। अलीगढ़ रेलवे स्टेशन से अतरौली जानेवाली बस पकड़ने के लिए तांगा या साइकिल रिक्शा लेना होता था और दस किलोमीटर का सफर बस के जरिए एक घंटे में तय होता था। ये बस हमें गंग नहर के किनारे बरौठा नामक स्थान पर उतारती, जहां पेड़ों की छांव में दोपहर का खाना खाया जाता, थोड़ी देर आरामकिया जाता और फिर दोपहर ढलने के बाद नहर के किनारे-किनारे पांच किलोमीटर का रास्ता बैलगाड़ी से तय किया जाता। ये रास्ता तय करने में दो-तीन घंटे और लग जाते और जब हमारी बैलगाड़ी बसावनपुर गांव में दाखिल कर रही होती, तो दिन छिपने पर होनेवाली नमाज मगरिब की अजान हो रही होती थी। यानी जो सफर सुबह 10 बजे शुरू हुआ करता था, वह शाम सात बजे तक पूरा होता था।

बसावनपुर पहुंचने के बाद अगले दो माह तक हमसे कोई ये पूछनेवाला नहीं होता था कि सुबह का नाश्ता कहां किया, दोपहर का खाना कहां खाया और रात को कहां सोये? क्योंकि जिस ननिहाल में आपके चार-पांच नाना-नानी और आठ-दस मामूओं के घर हो, उस ननिहाल में ये सवाल बेमानी थे। छोटी नहर में नहाना, आम के बागों के चक्कर लगाना, बये के घोसलें तलाशना, लक्ष्मी लाला की दुकान से नमकीन और मीठे सेव खरीदना, कयूम मामू के घोड़े पर सवारी करना और मासूम नाना के घर लगे जामुन के पेड़ से किस तरह जामुन तोड़ी जाये, यही जुगत करने में सारा वक्त गुजर जाता था और पता ही नहीं चलता था कि दो माह का अरसा कैसे गुजर गया? जिस दिन वापसी का सफर शुरू होता उस दिन हमारा दिल कुछ इस तरह उदास हो जाया करता, जैसे कोई बहुत कीमती चीज हमसे छीन ली गयी हो। अब उन दिनों के बारे में सोचता हूं तो लगता है कि वाकई वो बहुत कीमती चीज थी, जो अब किसी भी कीमत पर दोबारा मयस्सर नहीं हो सकती। मुनव्वर राना का एक शेर है:

तुम्हारे शहर में आये तो गांव से भी गये,

मकां की आस में पेड़ों की छांव से भी गये.

इस तरह ननिहाल गये 20-22 बरस का अरसा हो चुका है। वहां के ज्यादातर लोग गांव छोड़कर अलीगढ़ में आबाद हो गये हैं क्योंकि वहां बच्चों के पढ़ने-लिखने का कोई इंतजाम नहीं है और संचार क्रांति के इस दौर में टेलीफोन तो बसावनपुर तक पहुंच गया है, लेकिन अभी तक बिजली नहीं पहुंची है। जो दो-चार घर अभी वहां बचे हैं, तो इस वजह से कि पुरतैनी खेतीबाड़ी चल रही है और कुछ लोग उसे छोड़कर नहीं जाना चाहते। कुछ बरस पहले मैं अपने परिवार के साथ छुट्टियां मनाने मनाली गया था। दिल्ली से लगभग 600 किलोमीटर की दूरी विमान से एक घंटे में पूरी हो गयी। वापस जब दिल्ली पहुंचा, तो 30-35 वर्ष पुरानी बचपन की दो यादें कुछ इस तरह दिमाग में घूम गयीं, जैसे मैं कोई बाइस्कोप देख रहा हूं। आज शहर में बच्चों को सारी सुख-सुविधाएं उपलब्ध हैं, अच्छे स्कूल हैं, घूमने-फिरने के अवसर हैं, लेकिन मुझे लगता है कि इस दौर के बहुत सारे बच्चे उस बेशकीमती सरमाए से महरूम हैं, जो मुझे अपने बचपन में अपने गांव और ननिहाल में हासिल हुआ था और जिसे सहेजकर न रख पाने का दर्द मुझे अक्सर सालता रहता है।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं.)